

□□□□□□ □□□□□□□□□□

जनसत्ता 17 अगस्त, 2014 : अशोकवाजपेयी के स्तंभ 'कभी कभार' (22 जून) में दो टपिपणियां- 'गोवा में कला शविरि' और 'संप्रेषण की उलझनें' छपी थीं। इन टपिपणियों से पहले 2 अप्रैल के □ लयांस फ्रांसेज सभागार में 'स्वरमुद्रा' के वमिचन के अवसर पर भी उन्होंने कला समीक्षा और वशिषकर हृदि कला समीक्षा की दयनीय स्थिति पर चर्चा व्यक्त की थी। उसमें उन्होंने कहा था: 'हमारे यहां शास्त्रीय कला' तो उपस्थिति है, लेकिन उनका विश्लेषण करने वाली आलोचना बहुत कम है, खासतौर से हृदि आलोचना □ कतरह की छुटभैया आलोचना ही है। चित्रकला के क्षेत्र में ब□ कलाकारों पर कोई गंभीर आलोचनात्मक पुस्तक नहीं है' □ कशीरषस्थ कला मर्मज्ञ, समीक्षक अगर कला समीक्षा के ऐसी उलझनों में घरि हुआ पाता है, तो इसका अर्थ हुआ कि बात बहुत गंभीर है।

वाजपेयीजी ने इन टपिपणियों में कई समस्याएं उठाई हैं। पहली, कला समीक्षा का अभाव और उसका अपूर्ण होना। दूसरी, कला समीक्षा का उलझा होना और तीसरी, कला की पठनीयता में कमी। अपनी पहली टपिपणी में उन्होंने माना है कि आज भारतीय कला-चर्चा पूरी तरह पश्चिमी आधुनिक कला-चर्चा से आक्रांत है। यह सही है और इसके पीछे यह कारण भी हो सकता है कि बंगाल शैली के बाद भारत में जिस कला का वसतिर हुआ उसमें भावबोध, रूपाकृति और चर्चा वधिन (तकनीक) पर पाश्चात्य प्रभाव बहुत अधिक था। पर इस बात से सहमत नहीं हुआ जा सकता कि आधुनिक भारतीय कला-चर्चा के इस बात की भनक तक नहीं है कि हमारे यहां सदियों से कला-चर्चा होता रहा है।

हमारे प्राचीन कला-चर्चा का उल्लेख संक्षेप में या वसतिर, प्रायः कला इतिहास और दर्शन की हर पुस्तक में मलि जा□ गा, पर समस्या दूसरी है। पहली बात तो यह कि पाश्चात्य कला-चर्चा के पकी-पकी अवधारणाओं पर आधुनिक कला संरचनाओं का मूल्यांकन सरल हो जाता है। दूसरी, प्राचीन भारतीय कला वधियकमान्यताओं के लेकर आधुनिक कला का मूल्यांकन बहुत ब□ कलखंड और वधिरित सभ्यता की वैचारिकता के धुरवों के मलिना है, जो सरल कार्य नहीं था। कला अपने मूल में सार्वभौमिक है, पर उसके कला रूप सभ्यता, संस्कृति, समाज, धर्म आदि से प्रभावित होते हैं। यहां वाजपेयीजी ने ठीक ही कहा है: 'यह कठिन काम है और जिस तरह के आलोचनात्मक उद्यम और बौद्धिक सख्ती की मांग करता है, उसका खासा अभाव है।'

मगर यह कहने से कम नहीं बनता कि अभाव है। हृदि साहित्य में जिस प्रकार समीक्षाशास्त्र वधिल मात्रा में लिखा गया और वसिति हुआ, उसका अंश भी कला (ललति) में नहीं हो पाया। इसका उत्तरदायित्व समीक्षकों पर ही है। हृदि साहित्य में □ कसे □ क उद्भट आलोचक ह□, पर भारतीय कलाशास्त्र की मान्यताओं के तत्कलीन कला से जो□ ते ह□ कला समीक्षा की □ क धाराप्रवाह परंपरा बनाने की कसी ने नहीं सोची। श्यामसुंदर दास, प्रेमचंद और राय वृष्णदास ने जो वशिद्ध कला आधारित कला समीक्षा शुरू की थी, उसके आगे के साहित्य समीक्षकों द्वारा वसिति किया जाना चाह□ था।

कला आधारित समीक्षा की धारा का वसिति न होने से 'कई बार यह भी लगता है कि बहुत सारी आलोचना कसी कलाकृति या कसी कलाकार की अतवियाख्या करती है और ऐसे अर्थ खोज नकिलती है, जनि क सहज बोध सामान्य कला रसकों के नहीं होता और जिसे वे देख-समझ नहीं पाते।' क्यों?

ऐसी स्थिति में पहले तो संभव है कि समीक्षक का ज्ञान उसकी भाषा पर हावी हो जाता हो और दूसरी दशा में यह कलाकृति का मर्म खोजने के शर्म से बच कर नकिल जाने का रस्ता भी हो सकता है। यहां वाजपेयीजी ने ठीक लिखा है कि 'रचना संप्रेषणीय न हो तो आलोचना के हर हालत में संप्रेषणीय होना

चाहती है ' वे यह भी मानते हैं कि कला आलोचना के संप्रेषणीय होना चाहती है और संप्रेषण का प्रश्न सदा से उलझा हुआ रहा है। फिर रास्ता कौन सुझाता है? शब्दों के जादूगरी से संप्रेषण नहीं होता। विश्वनाथ त्रिपाठी ने 'कजुलाई के इंडिया हैबिटाट सेंटर में नामवर सहि से प्रश्न के संदर्भ में कहा: 'रचना के तल्लिसिम का प्रवेशद्वार भाषा ही है।' हालांकि उनका संदर्भ साहित्य था, पर कला भी तो आज तल्लिसिमी लगती है, तो उसके लिये सरल भाषा में समीक्षा और समीक्षा में सटीक व्याख्या की आवश्यकता है।

हृदि में कला आलोचना की स्थिति अत्यंत शोचनीय है। राय कृष्णदास की पतली-सी पुस्तक के बाद आज तक हृदि में भारतीय कला के इतिहास की कभी उल्लेखनीय पुस्तक दिखाई नहीं देती। अलग-अलग कलाकारों पर तो लिखा भी गया, पर 'कसमग्र आलोचनात्मक इतिहास न जाने क्या लिखा जा सकता है? कला आलोचना में अंगरेजी का ही वर्चस्व दिखाई देता है। अकदमी के कार्यक्रम हों, कला प्रदर्शनियां हों, कैटलॉग में परिचयात्मक लेख हों, प्रदर्शनियों के उद्घाटन भाषण हों, वे सभी ननियानबे प्रतशित अंगरेजी में संपन्न होते हैं। हृदि में तो कुछ होता ही नहीं, फिर हृदि कला समीक्षा दीन क्यों न हो? लगभग तीन वर्ष पूर्व ललित कला अकदमी ने 'हृदि में कला समीक्षा दशा और दशा' शीर्षक से 'कवचार गोष्ठी की थी, जो पछिले कुछ वर्षों में मेरी याद में अकदमी का 'कमात्र कार्यक्रम है, जो हृदि में संपन्न हुआ।

वाजपेयीजी 'संप्रेषण के उलझने' टिप्पणी का आरंभ ही इस वाक्य से करते हैं: 'हम किसके लिये लिखते हैं और जनिके लिये लिखते हैं उनमें से कितनों तक वह पहुंच पाता है?' यह प्रश्न समाज में कला की पैठ का भी है। यहां साहित्यकार जो लिखता है वह पाठक तक प्रकृति रूप में पहुंचता है, मूल रूप में नहीं। उस रचना पर पाठक का कोई अधिकार नहीं होता। पर कलाकृति का बार चित्रकार के हाथ से निकल कर समाज में किसी के पास गई तो उस व्यक्ति का कलाकृति पर अधिकार हो जाता है। वह 'कसाथ अनेक व्यक्तियों तक नहीं पहुंच सकती। रचित साहित्य न तो बेचा जाता है न ही उसकी नीलामी होती है। कलाकृति का वस्तु के रूप में बिक्री है। कला का उत्पाद हो गई है, इसलिये उसका बाजार होता है। वह भविष्य में अधिक मूल्य पर बेच कर धन कमाने के लिये भी खरीदी जाती है।

कला और साहित्य के संप्रेषण में भी मूलभूत अंतर है। कला की इकाई रूपाकृति है और साहित्य की शब्द। इसलिये रूपाकृति में रची गई कला और शब्दों के सहारे रचित साहित्य के संप्रेषण में अंतर हो जाता है। कला रूपों में अर्थ वसितार की बहुत गुंजाइश है, इसलिये केवल ऐसा नहीं है कि 'अपनी ओर से समझने का उद्यम ही नहीं करना चाहते।' कलाकृति के भावार्थ तक दर्शक कैसे पहुंचे, जबकि पूरी समीक्षा कलाकृति को बना छु। नकल जाती हो।

मेरा अनुभव है कि जिस प्रकार साहित्य का पाठकों में प्रसार होता है, कलाकृतियों का दर्शकों में नहीं होता। आम आदमी कलाकार को अजूबा मानता है, जो कलाकृति में ऐसा जादू भर सकता है कि वह करोड़ों में बिके। कलाकृति की महानता नीलामी के मूल्यों से और मीडिया के प्रचार से स्थापित होने लगी है। ब्रिटेन में अगर यह बहस उठाई जा सकती है कि आम आदमी कविता से दूर क्यों होता जा रहा है, तो हमारे देश में यह स्थिति और अधिक भयंकर होगी ही। ऐसे में कला का समाज में पैठ कैसे हो? आम कला रसिक भी कलाकृति का आनंद ले सके, ऐसी संप्रेषणीयता के उलझन मान कर छोड़ें। नहीं जा सकता।

संगीत की समीक्षा में जितने शब्द जनि तात्पर्यों के लिये प्रयुक्त की जाते हैं ऐसे कला में गीत क्यों नहीं जा सके, इसका रास्ता हृदि के शीर्षस्थ लेखकों के ही नकिलना है। प्रश्न उठाने के बाद उनका समाधान तो समीक्षक ही नकिलेंगे। कला गैलरियों की संख्या अधिक होना या उच्च धनाढ्य वर्ग का कला से जुड़ा हुआ इस बात का प्रमाण नहीं है कि कला समाज से अधिक जुड़ा या संप्रेषित हो रही है। 'कओर साहित्य प्रकृति होकर छोटे-छोटे कस्बों तक पहुंच जाता है और छोटे-छोटे शहरों से पत्रिका' प्रकृति होती है वहीं कला कॅंपोरेट जगत से जुड़ी ती चली जा रही है। साहित्य विशिष्ट से सामान्य में पैतता है, जबकि कला विशिष्ट में समिटती जा रही है।

फेसबुक पेज को लाइक करने के लिए क्लिक करें- <https://www.facebook.com/Jansatta>

ट्विटर पेज पर फॉलो करने के लिए क्लिक करें- <https://twitter.com/Jansatta>